THE TIMES OF INDIA

Date:29-03-23

Judging All Systems

Israel's judiciary vs executive tussle echoes across many democracies. Separation of power is vital

TOI Editorials

Israel's PM Netanyahu on Monday said his government will pause its effort to pass laws that would have allowed the legislature to override the Supreme Court with a simple majority. Israel, a parliamentary democracy without a written constitution, is fractured between supporters and opponents of the Netanyahu government's attempt to make the judiciary subservient to the legislature and political executive. These developments will echo in many other democracies. If there's a perennial challenge common to them, it's the system of checks and balances. Or the doctrine of separation of powers between the legislature, executive and judiciary.

Constitutions by their nature confine themselves largely to principles. It's for the legislature to use this framework to design laws that reflect popular will. However, a democracy's system of checks and balances to prevent abuse of power means that laws can be scrutinised by the judiciary to see if they are consistent with the constitution. This judicial review is the source of friction and is often portrayed as a battle between popular will and an unelected elite. India's very first constitutional amendment in 1951 introduced the ninth schedule to shield some laws from judicial review. Across democracies, time and again, the power of judicial review is the locus of dispute between legislature and judiciary.

Separation of powers is intrinsic to a democracy. In its absence, power is concentrated, undermining the very idea of a democracy. India's basic structure doctrine evolved through the working of the Constitution over two decades as successive governments, backed by a legislative majority, tested the boundaries of the system of checks and balances. The basic structure doctrine provides the guardrails to safeguard democracy. However, to posit frustration with this doctrine as a clash between popular will and obstructionism of the unelected is incorrect. Legislatures rarely display unanimity on this issue.

The one recent occasion when they did in India was in clearing a constitutional amendment, NJAC, to break down the judiciary's unjustifiable monopoly over its appointments and transfers. However, NJAC,

as Bibek Debroy has argued on this page, was poorly drafted. Critical aspects were loosely worded. GoI should take the initiative to build a consensus and come up with a tighter constitutional amendment. However, the friction between the judiciary and legislature is unlikely to end anywhere. It's not a bug in a democratic system. Rather, it's a sign that power is not concentrated.

Date:29-03-23

दागदार राजनीति

संपादकीय

यह स्वागतयोग्य है कि सुप्रीम कोर्ट उस याचिका की सुनवाई करने को तैयार है, जिसमें यह मांग की गई है कि दोषियों को राजनीतिक पार्टी बनाने और किसी दल का पदाधिकारी बनने पर रोक लगाई जाए। हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने इस याचिका को शीघ्र सुनने की आवश्यकता नहीं समझी, लेकिन यह आशा की जाती है कि वह उस पर गंभीरता से विचार करने के साथ ही ऐसा कुछ करेगा, जिससे किसी आपराधिक मामले में सजा पाए नेता किसी दल में पद न धारण कर सकें और न ही अपना राजनीतिक दल बनाने पाएं। ऐसी कोई व्यवस्था बनाना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि कई ऐसे नेता हैं, जो सजायाफ्ता होने के बाद भी अपने दल में कोई न कोई पद धारण किए रहते हैं अथवा उन्होंने अपने राजनीतिक दल का गठन कर लिया है। यह और कुछ नहीं सजायाफ्ता नेताओं की ओर से पर्दे के पीछे से की जाने वाली राजनीति है। उनकी यह सक्रियता राजनीति के अपराधीकरण को रोकने के प्रयासों पर पानी फेरने का ही काम करती है। यह सही है कि ऐसे नेता चुनाव नहीं लड़ सकते, लेकिन वे राजनीति में सक्रिय रहकर उसे प्रभावित करने का काम तो करते ही हैं। ऐसे नेता कई बार दल विशेष के कर्ता-धर्ता बनकर उसकी रीति-नीति तय करने का भी काम करते हैं। इसी तरह वे यह मिथ्या प्रचार करके लोगों की सहानुभूति अर्जित करने की भी कोशिश करते हैं कि उन्हें राजनीतिक बदले की भावना के तहत जानबूझकर झूठे मामले मे फंसाया गया।

सजायाफ्ता नेता ऐसे कुतर्क भी खूब देते हैं कि सबसे बड़ी अदालत जनता है। कई बार वे अदालतों के फैसले को सरकार का फैसला करार देकर भी लोगों को गुमराह करने का काम करते हैं। राहुल गांधी इन दिनों यही कर रहे हैं। उन्हें आपराधिक मानहानि के मामले में सूरत की एक अदालत ने सजा सुनाई है और उसके चलते उन्होंने लोकसभा सदस्यता गंवा दी है, लेकिन वह और उनके साथी यही प्रचारित करने में लगे हुए हैं कि उन्हें सरकार ने सजा दी है, क्योंकि वे उसके विरुद्ध बोल रहे थे। स्पष्ट है कि वह पीड़ित होने का दिखावा इसीलिए कर रहे हैं, क्योंकि यह जान रहे हैं कि सांसद न रहते हुए भी कांग्रेस की राजनीति उनके ही इर्द-गिर्द घूमती रहेगी और उन्हें कुछ हमदर्दी हासिल हो जाएगी। कायदे से सजायाफ्ता नेताओं को राजनीति से दूर करने का काम राजनीतिक दलों को ही करना चाहिए, लेकिन वे न तो इसके लिए तैयार हैं और न ही चुनाव आयोग के उस प्रस्ताव को स्वीकार रहे हैं जिसके तहत इस पर बल दिया जा रहा है, जो नेता गंभीर आरोपों से दो-चार हों और जिनके खिलाफ आरोपपत्र दायर हो चुका हो, उनके चुनाव लड़ने पर रोक लगाई जाए। समझना कठिन है कि राजनीतिक दल इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार क्यों नहीं हैं?

जनसत्ता

Date:29-03-23

जनतंत्र की जड़ें

संपादकीय

इजराइल में जिस तरह सरकार के खिलाफ लोग सड़कों पर उतरे और आखिरकार सरकार को घुटने टेकने पड़े, वह दुनिया की तमाम लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के लिए एक सबक है। हालांकि यह विरोध प्रदर्शन पिछले करीब दस हफ्तों से चल रहा था और उसमें वहां के सरकारी महकमों के लोग भी शामिल हो गए थे। सेना के पायलटों ने भी उसे समर्थन दिया था। सेवानिवृत्त फौजी अफसर आंदोलन के समर्थन में थे। वहां का सबसे बड़ा मजदूर संगठन सड़कों पर उतर आया था। मगर प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू अभी परसों तक अपने फैसले पर अडिग थे। जब उनके फैसले के विरोध में वहां के रक्षामंत्री ने भी बयान दे दिया तो उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। उसके बाद आंदोलन तेज हो गया। राष्ट्रपति इसाक हरजोग ने प्रधानमंत्री को न्यायपालिका में आमूल-चूल बदलाव संबंधी अपनी योजना को तत्काल रोकने को कहा। दुनिया भर के इजराइली दूतावासों को संदेश भेज दिया गया कि वे कामकाज रोक दें, केवल अति आवश्यक काम ही निपटाएं। हवाई सेवाएं रुक गई थीं। ऐसे में यह संभावना बढ़ गई थी कि नेतन्याहू अपने कदम वापस खींच सकते हैं। इतने बड़े आंदोलन के बाद भी अगर नेतन्याहू अपने फैसले पर अड़े रहते, तो निस्संदेह उसके भयावह परिणाम की आशंका थी।

दरअसल, पिछले महीने बेंजामिन नेतन्याहू ने संसद में वहां की न्यायपालिका में आमूल-चूल बदलाव संबंधी प्रस्ताव पारित करा लिया था। उसके तहत न्यायपालिका सीमित दायरे में ही काम कर सकती थी, उसके ऊपर सरकार का दबाव बना रहता। इसे लेकर लोगों में नाराजगी थी। उनका कहना था कि इससे लोकतंत्र कमजोर होगा। मगर नेतन्याहू का तर्क था कि इससे मतदाताओं को लाभ होगा। उनका मकसद केवल न्यायालयों को अपनी ताकत का जरूरत से ज्यादा इस्तेमाल करने से रोकना है। मगर विरोध प्रदर्शन कर रहे लोगों का आरोप था कि दरअसल, नेतन्याहू न्यायपालिका को अपनी मुट्ठी में कैद करके अपने ऊपर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों को खत्म करना चाहते हैं। इस प्रस्ताव के लागू होने के बाद न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ जाएगा। इससे न्यायपालिका को किसी कानून को रद्द करने का अधिकार भी छिन जाएगा। यह बदलाव करके नेतन्याहू तानाशाह की तरह शासन करना चाहते हैं। फिर धीरे-धीरे इन प्रस्तावों के विरोध में प्रदर्शन इतना व्यापक और प्रचंड होता गया कि लोग नेतन्याहू के आवास के करीब तक पहुंच गए। सड़कें अवरुद्ध कर दी गईं। फिर अमेरिका ने भी नेतन्याहू को समझाया कि वे लोकतांत्रिक देश हैं और उन्हें लोकतंत्र की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए।

लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में न्यायपालिका सरकारी कामकाज पर नजर रखने और उसे मर्यादित रखने का एक कारगर तंत्र होती है। दरअसल, न्यायपालिका लोकतंत्र के संवैधानिक मूल्यों का प्रहरी है। इसलिए कई बार सत्तापक्ष उसकी वजह से असहज महसूस करता है। इस मामले में इजराइल अकेले नहीं है, जहां न्यायपालिका पर नकेल कसने की कोशिश की जा रही थी। पूरी दुनिया में लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं इसीलिए प्रश्नांकित होने लगी हैं कि उनमें से कइयों ने न्यायपालिका को कमजोर करके निरंकुश व्यवस्थाएं लागू करने का प्रयास किया है। हालांकि विरोध के स्वर हर जगह उठे हैं, मगर कई

जगह सरकारें उन्हें दबाने में कामयाब रही हैं। इस लिहाज से इजराइल की अवाम ने नेतन्याहू के प्रयास को चुनौती देकर एक तरह से जीवंत लोकतंत्र होने का सबूत दिया। अब जैसी स्थिति वहां बन चुकी थी कि उस विरोध प्रदर्शन को दबाना सरकार के लिए संभव नहीं था। अच्छी बात है कि नेतन्याहू ने अपने कदम वापस ले लिए।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:29-03-23

उच्च शिक्षा में सुधार का बड़ा दांव

हरिवंश चतुर्वेदी, (डायरेक्टर, बिमटेक)

भारत में इन दिनों विदेशी उच्च शिक्षण संस्थानों के परिसरों की स्थापना सुर्खियों में है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, यानी यूजीसी द्वारा जारी दिशा-निर्देश संबंधी मसौदे पर लोगों से सुझाव मांगने की मीयाद पूरी हो चुकी है और अब नजर सरकार के अगले कदम पर है। देखा जाए, तो यह कोई नया मामला नहीं है। पूर्ववर्ती यूपीए सरकार के दौरान भी इससे जुड़े करीब सात बिल तैयार किए गए थे, पर विरोध के कारण उनको पेश नहीं किया जा सका। तब यह कहा गया था कि ऐसे संस्थान हमारे विश्वविद्यालयों की सेहत बिगाड़ सकते हैं। मगर अब नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में बताया गया है कि देश की उच्च शिक्षा को विश्व स्तर पर प्रतिस्पद्र्धी बनाने के लिए जरूरी है कि हमारे शिक्षण संस्थानों की सहभागिता बाहरी विश्वविद्यालयों के साथ बढ़े।

भारत में उच्च शिक्षा का एक बड़ा बाजार है। देश की करीब 1.4 अरब आबादी में उच्च शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या 4.13 करोड़ है। आलम यह है कि हर साल छह से सात लाख छात्र अच्छी शिक्षा हासिल करने के लिए दूसरे देशों का रुख करते हैं। इसकी एक वजह यह भी है कि भारत के शीर्ष संस्थानों में कई बार कट ऑफ 99 से 100 प्रतिशत तक चला जाता है, जिसके कारण छात्रों की एक बड़ी संख्या बेहतर शिक्षा से दूर हो जाती है। सरकार इसी कमी को पाटना चाहती है, जिसके लिए विदेशी उच्च शिक्षण संस्थानों पर दांव खेला जा रहा है।

विदेशी विश्वविद्यालयों का आना कई मामलों में फायदेमंद हो सकता है। इससे हम 'टैलेंट क्राइसिस', यानी प्रतिभा के संकट से पार पाने में सफल हो सकते हैं। रिपोर्ट बताती है कि देश के 50 फीसदी कॉलेजों में जरूरत के आधे शिक्षक भी

नहीं हैं। फिर, पिछले 30 वर्षों में उच्च शिक्षा, विशेषकर तकनीकी शिक्षा का जो विस्तार हुआ है, उसका नुकसान मानविकी व विज्ञान जैसे विषयों के छात्र-छात्राओं को उठाना पड़ा है। उनके लिए रोजगार के अवसर तुलनात्मक रूप से सिमटते गए हैं। हमारे यहां बेशक आईआईटी, आईआईएम जैसे उच्च श्रेणी के शिक्षण संस्थान हैं, और तमाम तरह के केंद्रीय विश्वविद्यालय भी, लेकिन देश का हर बच्चा इतना भाग्यशाली नहीं होता कि वह इन संस्थानों में दाखिला पा सके।

विदेशी उच्च शिक्षण संस्थान हमारे कई संस्थानों पर बीस साबित हो सकते हैं। वहां छात्र-छात्राओं को बेहतर सुविधाएं तो मिलेंगी ही, अच्छा पाठ्यक्रम, पठन-पाठन का अत्याधुनिक तरीका देश में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का माहौल और समृद्ध करेगा। इससे शिक्षकों में भी प्रतिस्पद्र्धी माहौल बढ़ेगा। फिलहाल भारत में करीब 15 लाख शिक्षक उच्च शिक्षण-कार्य में जुटे हैं, जिनमें से कई संसाधनों के अभाव में नई तकनीक से दूर हैं। विदेशी संस्थानों की आमद से उनमें तकनीक अपनाने की होड़ मच सकती है।

मगर इसकी कुछ कीमत भी हमें चुकानी पड़ सकती है। हमारे बेहतर शिक्षण संस्थानों को इसका बड़ा नुकसान हो सकता है। उनकी अच्छी फैकल्टी को विदेशी संस्थान सुविधाओं और तनख्वाह के नाम पर लुभाने की कोशिश कर सकते हैं। यूजीसी के दिशा-निर्देश संबंधी मसौदे में विदेशी संस्थानों के लिए किसी भी तरह के नियमन न होने की बात कही गई थी। वे नियम भी उन पर लागू नहीं होंगे, जिनसे हमारे शिक्षण संस्थान बंधे हुए हैं। जाहिर है, उनकी स्वायत्तता हमारे संस्थानों को चोट पहुंचाएगी। ऐसे में, उनको कम से कम 50 प्रतिशत फैकल्टी अपने मुख्य परिसर से लाना अनिवार्य किया जाना चाहिए, जिनके लिए यहां रहकर पढ़ाना आवश्यक बनाया जाए।

सवाल यह भी है कि कितने विदेशी विश्वविद्यालय भारत का रुख करेंगे? बोस्टन कॉलेज के पूर्व प्रोफेसर व भारत की उच्च शिक्षा पर शोध करने वाले अंतरराष्ट्रीय स्तर के शिक्षाविद फिलिप ऑल्टबैक का मानना है कि ऐसा शायद ही हो सकेगा। उनका कहना है कि नामचीन विदेशी विश्वविद्यालय भारत जैसे देशों में अपना परिसर नहीं बनाएंगे, क्योंकि उन्होंने अपने मूल देश से इतर कहीं और कैंपस नहीं खोले हैं। पिछले पांच दशकों में चंद अमेरिकी या यूरोपीय विश्वविद्यालयों ने अपने परिसर बाहर तभी खोले हैं, जब उनको बनी-बनाई इमारत जैसी कई तरह की रियायतें मिलीं। सिंगापुर, संयुक्त अरब अमीरात जैसे देशों में इन विश्वविद्यालयों के पहुंचने की यही मूल वजह थी। चीन ने तो 'कम ऐंड बिल्ड योर कंट्री' (आइए और अपने देश को बनाइए) जैसे अभियान चलाकर अनिवासी प्रोफेसरों को कई तरह की अतिरिक्त सुविधाएं देकर वापस मुल्क लौटने की पेशकश की थी, जिसका पर्याप्त लाभ उसे मिला। भारत इन सबसे अभी कोसों दूर है। हमारे कई प्रोफेसर विदेश के अनेक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में पढ़ा रहे हैं, लेकिन उनको वापस बुलाने की कोई गंभीर कोशिश हमने अब तक नहीं की है।

हकीकत यही है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमारी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। तमाम तरह की समितियों द्वारा छह फीसदी खर्च करने की सिफारिश के बावजूद हम अपनी राष्ट्रीय आय का बमुश्किल तीन फीसदी शिक्षा पर खर्च कर पा रहे हैं। आज देश के कुल उच्च शिक्षण संस्थानों में 75 फीसदी निजी हाथों में हैं। सरकार सार्वजनिक शिक्षा के मद में अपना खर्च लगातार घटा रही है। यह सही प्रवृत्ति नहीं है। उच्च शिक्षा किसी भी देश के समग्र विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभाती है। यह आर्थिक विकास की रफ्तार बढ़ाने में भी मददगार है। अपने यहां भी जिन राज्यों में उच्च शिक्षा पर ज्यादा ध्यान दिया गया, उनकी आर्थिक तरक्की कहीं बेहतर है। तमिलनाडु, तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक जैसे राज्य इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इसके विपरीत बिहार, उत्तर प्रदेश जैसे सूबों की खस्ता हालत भी हम देख सकते हैं।

जाहिर है, अपने संस्थानों का भी हमें कायाकल्प करना होगा। शिक्षण संस्थानों के पास इतने संसाधन तो होने चाहिए कि वे अत्याधुनिक तकनीक अपना सकें। जैसे, यदि हर कक्षा में स्मार्ट बोर्ड ही दे दिया जाए, तो पढ़ाने के तरीके में गुणात्मक सुधार आएगा। इससे प्रोफेसरों के काम आसान हो जाएंगे और वे कहीं अधिक सुगमता से पढ़ा सकेंगे। बेहतर यही होगा कि देश की शीर्षस्थ संस्थाओं के साथ साझेदारी करके विदेशी विश्वविद्यालयों को आने की अनुमति दी जाए। बीमा कंपनियों के मामले में साल 2000 में ऐसी ही शर्त रखी गई थी, जो काफी सफल रही थी। मुमकिन है कि इस बार भी दोनों पक्ष इससे फायदे में रहेंगे।